International Journal of Education and Science Research Review
E-ISSN 2348-6457
Volume-5, Issue-3 July- 2018
P-ISSN 2349-1817
www.ijesrr.org
Email- editor@ijesrr.org

प्रचलित संस्कारों की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता

Dr. Satbeer Sharma
Research Guide C.M.J.University
Shilong Megahalaya

Vivek Kumar Dwivedi
Research Scholar C.M.J.University
Shilong Megahalaya

वर्तमान आधुनिक समाज एक संक्रमण की अवस्था में से गुजर रहा है। विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले वाले परिवर्तनों की तेज आँधी में जीवन और समाज के बहुत से मूल्य उतार चढ़ाव का सामना करने पर विवश हुए है। इस द्वन्द्व को ठीक से न समझने वाली कई पीढ़ियों को पुरातनता व आधुनिका के कई मूल्यों में हुआ परिवर्तन दिखाई ही नहीं पड़ता। इसी क्रम में वे पुरानी मान्यताओं को बिना ठीक से समझे हुए ही ठुकराने में लग गये हैं और हर नई दिखने वाली प्रक्रिया को अपनाने में लग गये हैं। यह संस्कारों के प्रति बदलते दृष्टिकोण का परिचायक है और यह एक चिन्ताजनक अवस्था है।

संस्कारों के अध्ययन से पता चलता है कि उनका सम्बन्ध संपूर्ण मानव जीवन से रहा है। मानव जीवन एक महान रहस्य है। संस्कार इसके उद्‌भव, विकास और ह्रास होने की समस्याओं का समाधान करते थे। जीवन भी संसार की अन्य कलाओं के समान कला माना जाता है। उस कला की जानकारी तथा परिष्करण संस्कारों द्वारा होता था। संस्कार पशुता को भी मनुष्यता में परिणत कर देते थे। जीवन एक चक्र माना गया है। यह वहीं आरम्भ होता है, जहाँ उसका अंत होता है। जन्म से मृत्यु पर्यंत जीवित रहने, विषय भोग तथा सुख प्राप्त करने, चिंतन करने तथा अंत में इस संसार से प्रस्थान करने की अनेक घटनाओं की श्रृंखला ही जीवन है।[1] संस्कारों का सम्बन्ध जीवन की इन सभी घटनाओं से था।

(1) हिंदू धर्म में संस्कारों का स्थान

संस्कारों का हिंदू धर्म में महत्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन समय में जीवन विभिन्न खंडों में विभाजन नहीं, बल्कि सादा था। सामाजिक विश्वास कला और विज्ञान एक– दूसरे से सम्बंधित थे। संस्कारों का महत्व हिंदू धर्म में इस कारण था कि उनके द्वारा ऐसा वातावरण पैदा किया जाता था, जिससे व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो सके।

हिंदुओं ने जीवन के तीन निश्चित मार्गों को मान्यता प्रदान की –[2]

1. कर्म– मार्ग,
2. 2. उपासना– मार्ग तथा
3. 3. ज्ञान– मार्ग।

यद्यपि मूलतः संस्कार अपने क्षेत्र की दृष्टि से अत्यंत व्यापक थे, किंतु आगे चलकर उनका समावेश कर्म– मार्ग में किया जाने लगा। वे एक प्रकार से उपासना– मार्ग तथा ज्ञान– मार्ग के लिए भी तैयारी के साधन थे।

कुछ मनीषियों ने संस्कारों का उपहास किया है, क्योंकि उनका सम्बन्ध सांसारिक कार्यों से था। उनके अनुसार संस्कारों द्वारा इस संसार सागर को पार नहीं किया जा सकता। साथ में हिंदू विचारकों ने यह भी अनुभव किया कि बिना संस्कारों के लोग नहीं रह सकते। आधार– शिला के रुप में स्वतंत्र विधि– विधान एवं परम्परा के न होने से चार्वाक् मत का अंत हो गया। यही कारण था, जिससे जैनों और बौद्धों को भी अपने स्वतंत्र कर्मकाण्ड विकसित करने पड़े।

पौराणिक हिंदू धर्म के साथ वैदिक धर्म का ह्रास हुआ। इसके परिणाम– स्वरुप, जो संस्कार घर पर होते थे, वे अब मंदिरों और तीर्थस्थानों पर किये जाने लगे। यद्यपि दीर्घ तथा विस्तृत यज्ञ प्रचलित नहीं रहे, किंतु संस्कार जैसे यज्ञोपवीत तथा चूड़ाकरण, कुछ परिवर्तण के साथ वर्तमान समय में भी जारी हैं।

(2) संस्कारों की उपयोगिता

प्राचीन समय में संस्कार बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। उनसे व्यक्तित्व के विकास में बड़ी सहायता मिली। मानव जीवन को संस्कारों ने परिष्कृत और शुद्ध किया तथा उसकी भौतिक तथा आध्यात्मिक आकांक्षाओं को पूर्ण किया। अनेक सामाजिक समस्याओं का समाधान भी इन संस्कारों द्वारा हुआ। विद्यारम्भ तथा उपनयन से समावर्तन पर्यंत सभी संस्कार शिक्षा की दृष्टि से अत्यंत महत्व के थे। विवाह संस्कार अनेक यौन तथा सामाजिक समस्याओं का ठीक हल थे। अंतिम संस्कार, अंत्येष्टि, मृतक तथा जीवित के प्रति गृहस्थ के कर्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करता था। वह तथा पारिवारिक और सामाजिक स्वास्थ्य विज्ञान का एक विस्मयजनक समन्वय था तथा जीवित सम्बन्धियों को सांत्वना प्रदान करता था।

(3) संस्कारों का ह्रास

आंतरिक दुर्बलताओं तथा बाह्य विषय परिस्थितियों के कारण कालक्रम से संस्कारों का भी ह्रास हुआ। उनसे लचीलापन तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन की क्षमता नहीं रही, इनमें स्थायित्व आ गया। नवीन सामाजिक व धार्मिक शक्तियाँ समाज में क्रियाशील थी। बौद्ध धर्म, जैन धर्म तथा भक्ति मार्ग ने जनसाधारण का ध्यान कर्मकाण्ड से हटा कर भक्ति की ओर आकर्षित किया।[3] भाषागत कठिनता भी संस्कारों के ह्रास के लिए उत्तरदायी थी। समाज का आदिम स्थिति से विकास और मानवीय क्रियाओं की विविध शाखाओं का विशेषीकरण भी संस्कारों के ह्रास का कारण सिद्ध हुआ। इस्लाम के उदय के पश्चात् संस्कारों की विभिन्न क्रियाओं को स्वतंत्रता पूर्वक करना सम्भव नहीं था। पाश्चात्य शिक्षा– पद्धति और भौतिक विचारधारा से भी इनको बड़ा धक्का लगा।

(4) वैदिक काल में संस्कार और शिक्षा का सम्बंध

वेद अनन्त ज्ञान–राशि का वह अक्षय भण्डार है जो तत्त्वदर्शी ऋषियों के द्वारा परिलक्षित एवं आविष्कृत होकर मन्त्रें के रूप में प्रकट हुआ। वेद सम्पूर्ण भारतीय विचारधारा के चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन के मूल आधार रहे हैं– ''सर्वज्ञानमयो हि सः'' (मनु0 2.7)। भारतीय परम्परा में इनको अपौरुषेय एवं ईश्वर का निःश्वास कहा गया है अर्थात् वेदों में जो उक्त है वह सब ईश्वरीय वाणी या उसकी इच्छा है। वही परम सत्य तथा परम प्रमाण है– ''प्रमाणं परमं श्रुतिः'' (मनु0 2.13)। बिना वैदिक परिज्ञान के आध्यात्मिक प्रवृत्ति एवं नैतिक चरित्र का अभिज्ञान असम्भव है।[4] आज भी वेद श्रेष्ठतम मूल्यों के प्रामाणिक और व्यावहारिक चिन्तन के कारण प्रासप्रिक हैं।

मूल्य मानव जीवन की सार्थकता है, उसका अस्तित्त्व है। मूल्यों के अभाव में मानवोचित जीवन की स{ल्पना चरितार्थ नहीं हो सकती है। मूल्य भावात्मक पक्ष से सम्बद्धित हैं जो बुद्धि, मन एवं आत्मा का संवर्धन एवं संस्कार करते हैं। यह संस्कार शारीरिक संस्कार की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। आर्ष मनीषा मानव को मूल्योन्मुख करने के लिए सतत् तत्पर रही है। उनके मंत्र मूल्य–शिक्षा के प्रतिमान हैं, आदर्श हैं और आज भी अनुकरणीय हैं। हमारी सम्पूर्ण नैतिकता, धार्मिकता, सामाजिकता एवं दार्शनिकता के आदिम बीज ऋचाओं में ही समाहित हैं, वहीं उनके वास्तविक स्वरूप का अनुशीलन किया जा सकता है और उनके वैदिक अन्तर्दृष्टि को जीवन में आत्मसात् करके कल्याणकारी समाज की स्थापना की जा सकती है।

मानव जीवन को मूल्यवान् बनाने के लिए वैदिक ऋषियों ने न केवल मन्त्रें में अनेकशः उसका उपदेश किया प्रत्युत् एक सर्वाप्रपूर्ण लोककल्याणकारी शिक्षा पद्धति का सूत्रपात् भी किया जिसमें विद्यार्थी निरन्तर गुरु के सानिध्य में रहकर विद्यार्जन करने के साथ ही मूल्यों का प्रशिक्षण भी प्राप्त करते थे। वैदिक युग में प्रचलित गुरुकुल शिक्षा–पद्धति लौकिक की अपेक्षा आध्यात्मिक विकास पर केन्द्रित थी। संसार की असारता और विषयभोगों की क्षणभंगुरता का साक्षात्कार करने वाले तत्त्ववेत्ताओं ने दिव्य ज्ञान द्वारा एकमात्र अजर, अमर, शाश्वत, अविकारी आत्मा को 'परमतत्त्व'

और उसकी उपलब्धि को जीवन का 'चरम–लक्ष्य' या 'परम पुरुषार्थ' घोषित किया। शिष्यों को उस परम पुरुषार्थ के योग्य बनाने के लिए गुरुकुलों में सत्य, अनासक्ति, संयम, धर्म–परायणता, लोकहितकारिता, मित्रता, दानशीलता जैसे मूल्यों पर आधारित शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी।[5] शिष्यों से ब्रह्मचर्य के नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन कराया जाता था। जिससे जीवन–मूल्य उनकी प्रकृति या स्वभाव बन जाते थे। जिसे वह आजीवन त्याग नहीं पाता था। इस प्रकार वैदिक गुरुकुल मूल्यों के प्रशिक्षण केन्द्र थे जो व्यक्ति को स्वहित के साथ ही परिवार, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हित में कल्याणकारी कृत्यों के सम्पादन के लिए प्रेरित करते थे।

वेदकालीन युग में शिक्षा का सर्वाधिक प्रमुख उद्देश्य छात्रों में अच्छे संस्कारों का विकास करना था। शिक्षा के द्वारा वैदिक आदर्शों के अनुरूप संस्कारों को छात्रों में विकसित किया जाता था। ब्रह्मचर्य, सदाचार, परमार्थ, जनहित भावना, परोपकार, सामाजिक भोजन, गुरु व बड़ों का आदर, कर्त्तव्य पालन, सत्यव्रत, मार्म के प्रति निष्ठा, श्रम के प्रति रुचि, उच्च विचार आदि संस्कारों को विकसित करके छात्रों को संस्कारयुक्त बनाया जाता था। प्राचीन शिक्षा पद्यति के अन्तर्गत ज्ञान एवं अनुभव का समन्वय करके शिक्षा प्रदान की जाती थी, जिसके पफलस्वरूप शिक्षार्थी ज्ञान को आत्मसात् करने में सपफल हो पाते थे। इस शिक्षा पणति में चिन्तन, मनन, स्वामयाय इत्यादि के द्वारा शिक्षार्थियों को यथासम्भव योग्य व कुशल बनाने का प्रयास गुरुजनों द्वारा किया जाता था। इस उद्देश्य के सन्दर्भ में डॉ. आर. के. मुकर्जी ने लिखा है कि शिक्षा का उद्देश्य पढ़ना नहीं था, वरन् ज्ञान एवं अनुभव का आत्मसात करना था।[6]

वैदिक युग में शिक्षा का दूसरा प्रमुख उद्देश्य मानव का आत्मिक विकास करना था। उस काल में मानव जीवन को अत्यधिक सरल, स्वाभाविक तथा पवित्र बनाने का प्रयास किया जाता था। जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति था। मनुष्य की ईश्वर में पूर्ण आस्था थी तथा मार्म के द्वारा सत्य तक पहुँचकर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा था। वैदिक कालीन शिक्षा का एक अन्य महत्वपूर्ण गुण, छात्रों की चित्तवृत्तियों का निरोमा करना था। प्राचीन भारतीय शिक्षाविद् जीवन को सपफल बनाने हेतु आत्मज्ञान एवं आत्मसंयम का समान महत्व मानते थे। इसी कारणवश वैदिक काल में शिक्षार्थियों को न केवल मौखिक या सैद्धान्तिक रूप से सत्य का ज्ञान कराया जाता था, अपितु सत्य के मार्ग पर चलने के लिये उन्हें आत्मसंयम की दिशा में प्रशिक्षण भी प्रदान किया जाता था।[7] इसी उद्देश्य से शिक्षार्थियों को भिन्न–भिन्न प्रकार की कठोर परीक्षाओं में अपने को खरा सिद्ध करना आवश्यक था। शिक्षार्थियों को दिनचर्याओं का कठोरता से पालन करना पड़ता था। डॉ. आर. के. मुखर्जी के अनुसार मन के उन कार्यों का निषेध था, जिनके कारण यह भौतिक जगत में उलझ जाता है। वैदिक काल में शिक्षार्थियों के चरित्र–निर्माण तथा विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसी को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य समझा जाता था। वैदिक काल में ज्ञान सम्पन्न परन्तु चरित्रहीन व्यक्ति को अत्यंत निम्न दृष्टि से देखा जाता था।

शिक्षार्थियों के चारित्रिक निर्माण हेतु, उनमें आरम्भ से ही विभिन्न नैतिक प्रवृत्तियों का विकास करना नितान्त आवश्यक माना जाता था। गुरुजन शिक्षार्थियों को सदाचरण के उपदेश देते थे एवं स्वयं अपने उन्नत चरित्र को उदाहरण स्वरूप शिक्षार्थियों के सामने प्रस्तुत करते थे। वैदिक काल में मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्यतियों पर ध्यान आकर्षित किया गया। श्रवण, मनन तथा निदिमयासन विधि को शिक्षण में प्रयुक्त किया जाता था। श्रवण विधि में छात्र बड़े ध्यान और श्रद्धापूर्वक गुरुवाणी को सुनता था। तदोपरान्त मनन और चिन्तन द्वारा श्रवण की गयी बातों का विश्लेषण करता था। विश्लेषण के उपरान्त वह जिन तथ्यों तक पहुँचता था, उन्हें निदिमयासन प्रक्रिया के द्वारा अपने मस्तिष्क में ग्रहण करता था।[8] इस युग में मौखिक कार्य पर अधिक बल दिया जाता था। लेखन कार्य भोजपत्र पर हुआ करता था। लेखन कार्य का अभ्यास भी अधिक कराया जाता था। शंका समाधान, प्रश्नोत्तर, वाद–विवाद आदि के माध्यम से भी छात्र–छात्राओं को शिक्षा दी जाती थी।

(5)संस्कारों की वर्तमान प्रासंगिकता

संस्कारों के दो उद्देश्य थे। एक उद्देश्य तो प्रकृति में विरोधी शक्तियों के प्रभाव को दूर करना और हितकारी शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करना था, क्योंकि प्राचीन हिंदूओं का भी अन्य प्राचीन जातियों की भांति यह विश्वास था कि मनुष्य कुछ अधिमानव प्रभावों से घिरा हुआ है।[9] इस प्रकार वह बुरे प्रभाव को दूर करके और अच्छे प्रभाव को आकर्षित करके

देवताओं और इन अधिमानव शक्तियों की सहायता से समृद्ध और सुखी रहेगा। संस्कारों के द्वारा वे पशु, संतान, दीर्घायु, संपत्ति और समृद्धि की आशा करते थे। संस्कारों के द्वारा मनुष्य अपने हर्षोल्लास को भी व्यक्त करता था।

दूसरा मुख्य उद्देश्य सांस्कृतिक था। मनु के अनुसार मनुष्य संस्कारों के द्वारा इस संसार के और परलोक के जीवन को पवित्र करता है। इसी प्रकार के विचार याज्ञवल्क्य ने व्यक्त किये हैं। प्राचीन भारतीयों का विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य शूद्र उत्पन्न होता है और उसे आर्य बनने से पूर्व शुद्धि या संस्कार की आवश्यकता होती है।[10] इसी उद्देश्य से उपनयन संस्कार किया जाता था। संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य का नैतिक उत्थान और उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करके जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचने के योग्य बनाना था। संस्कारों का संबंध मनुष्य के संपूर्ण जीवन से था। वे जीवन भर इस संसार में और आत्मा के द्वारा परलोक में भी उस पर प्रभाव डालते थे।

जीवन भर मनुष्य संयम का जीवन बिताता था और उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनुशासन में रहता था। इस प्रकार समाज में समान संस्कृति के और अधिक चरित्रवान व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होता था। प्राचीन भारतीयों की धारणा थी कि संस्कारों के द्वारा मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। इन के द्वारा मनुष्य को यह अनुभूति होती है कि संपूर्ण जीवन ही आध्यात्मिक साधना है। इस प्रकार संस्कारों के द्वारा सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन में सुंदर समन्वय स्थापित किया गया था।[11] शरीर और उसके कार्य अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक माने जाते थे न कि बाधक।
संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य की पाशविकता को परिष्कृत— मानवता में परिवर्तित करना था। प्राचीन काल में मनुष्य के जीवन में धर्म का विशेष महत्व था। संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व को इस प्रकार विकसित करना था कि वह विश्व में मानव और अतिमानव शक्तियों के साथ समन्वय स्थापित कर सके। इनका उद्देश्य मनुष्य को बौद्धिक ओर आध्यात्मिक रुप से सुसंस्कृत बनाना था। गर्भाधान से जन्म तक के संस्कारों का उद्देश्य सुजनन विज्ञान की शिक्षा और विद्यारंभ से समावर्तन तक के संस्कारों का शैक्षिक महत्व था। विवाह संस्कार का सामाजिक महत्व था। इस संस्कार के द्वारा मनुष्य का पारिवारिक जीवन सुखी बनता था और समाज में सुव्यवस्था रहती थी। अंत्येष्टि संस्कार का उद्देश्य पारिवारिक और सामाजिक स्वास्थ्य परिवार के जीवित व्यक्तियों को सांत्वना प्रदान करना था।

ये संस्कार वर्ण— धर्म और आश्रम— धर्म दोनों का अभिन्न भाग थे। वर्ण— धर्म का उद्देश्य व्यक्ति के कार्यों को समाज के हित को ध्यान में रख कर नियंत्रित करना था। आश्रम धर्म का भी यही उद्देश्य है, किंतु इसमें प्रमुख रुप से व्यक्ति के हित को ध्यान में रखा जाता था। इन दोनों दृष्टिकोणों को मिलाने वाली कड़ी संस्कार है। संस्कारों के द्वारा व्यक्ति पहले से अधिक संगठित और अनुशासित होकर एक चरण से दूसरे चरण में प्रवेश करता था। इस प्रकार प्रशिक्षण देकर व्यक्ति को समाज के लिए पूर्णतया उपयोगी बनाया जाता था। गृहस्थाश्रम में योग्य संतान उत्पन्न करके पति— पत्नी समाज के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करते थे, किंतु साथ ही वे अपनी निजी उन्नति भी करते थे। गृहस्थाश्रम भी वानप्रस्थ की और इसी प्रकार वानप्रस्थ संन्यास की पृष्ठभूमि हैं। सभी आश्रम व्यक्ति को उस के लक्ष्य मोक्ष की ओर ले जाते हैं।

संस्कार के समय जो धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं, वे व्यक्ति को इस बात की अनुभूति करती है कि उसके जीवन में इस संस्कार के बाद कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन होने जा रहा है। उदाहरण के लिए उपनयन संस्कार उसे इस बात की अनुभूति कराता है कि वह इस संस्कार के बाद उस समुदाय की सांस्कृतिक परंपरा का अध्ययन करेगा, जिस समुदाय विशेष का वह सदस्य है। इसी प्रकार विवाह संस्कार के बाद संतानोत्पत्ति करके अपने समुदाय की शक्ति बढ़ाने का निश्चय करता है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर वह समाज के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करके धर्म— संचय करता है, जिससे उसकी आध्यात्मिक उन्नति होती है, जो उसे उसके जीवन के लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की ओर अग्रसर करती है।[12]

संस्कारों के समय की जाने वाली धार्मिक क्रियाएँ व्यक्ति को इस बात की अनुभूति कराती थी कि अब उसके ऊपर कुछ नई जिम्मेदारियाँ आ रहीं हैं, जिन्हें पूरा करके ही वह समाज की और अपनी दोनों का उन्नति कर सकता है। इस प्रकार संस्कार पूर्वजन्म के दोषों को दूर करके और गुणों का विकास करने में सहायक होकर व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करके व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति में सहायक होते थे, इसलिए प्राचीन भारत में संस्कारों का इतना महत्व था।[13]

कालांतर में जन साधारण संस्कारों के सामाजिक और धार्मिक महत्व को भूल गए। संस्कार एक परम्परा मात्र रह गए। उनमें गतिशीलता न रही। समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन नहीं किए गए। उनमें मानव को सुसंस्कृत बनाने की शक्ति न रही। वे नित्य चर्या से संबंधित धार्मिक– कृत्य मात्र रह गए। उनका जीवन पर प्रभाव लेशमात्र भी न रहा। अब वैज्ञानिक प्रगति के कारण जीवन की संकल्पना ही बदल गयी है। अब मानव उन अतिमानव शक्तियों में विश्वास नहीं करता, जिनके अशुभ प्रभाव को दूर करने और अच्छे प्रभाव को आकर्षित करने के लिए संस्कार किए जाते थे, किंतु मानव जीवन का स्रोत अब भी एक रहस्य है। अतः मनुष्य अब भी संस्कारों के द्वारा अपने जीवन को पवित्र करना चाहता है। मनुष्य अब भी यह भली– भांति जानता है कि जीवन एक कला है। उसको सफल बनाने के लिए जीवन का परिष्कार करने की आवश्यकता है। व्यक्ति के सुसंस्कृत होने पर ही समाज सुसंस्कृत हो सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वर्तमान काल में भी संस्कारों का अपना अलग महत्व है। संस्कारों का रुप बदल सकता है, किंतु जीवन को सफल बनाने की दिशा में उनका महत्व कम नहीं हो सकता।

आज यदि हम विश्व पटल के वर्तमान परिदृश्य पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि विश्व वसुंधरा पर छाई आसुरी प्रवृत्तियों ने धरती की संचित शोभाकृसुषमा को अपने विकराल जाल में जकड़ने की पूर्ण तैयारी कर ली है। आज विश्व में धनकृवैभव के मूल्य बढ़ गये हैं और नैतिकता के मूल्य शून्य हो गये हैं। गरीबी की गरिमा, सादगी का सौंदर्य, संघर्ष का हर्ष समता का स्वाद, आस्था का आनंद सभी जनसाधारण के आचरण से पतझर के पत्तों की भांति झर गये हैं। उद्देश्य रहित चिंतन और आदर्श रहित चरित्र नारकीय वातावरण उत्पन्न कर रहा है।हिंसा का तांडव चल रहा है, सत्य अंधकार में विलीन हो गया है। भ्रष्टाचार, कदाचार, अनियंत्रित यौनाचार, मायाचार आदि पापाचारों के आचार का स्वाद लोगों की जीभ पर चढ़ गया है। हिंसा, झूठ, डाके, चोरी, राहजनी, आगजनी, कालाबाजारी, तस्करी नशावृत्ति, आदि प्रवृत्तियां बिना किसी अंकुश के आगे बढ़ती जा रही है। आधुनिक शासक रक्षक बनने के बजाय भक्षक बनते जा रहे हैं। भाई–भतीजावाद ने न्याय–व्यवस्था की धज्जियां बिखेर दी हैं। अपरिग्रह का आदर्श पुस्तकों में बंद हो गया है, ब्रह्मचर्य की भावना आधुनिक विलासता के आवरण में लुप्त होती जा रही है। आवागमन के साधनों की बहुलता ने विश्व की दूरी अवश्य कम कर दी है, किन्तु मानव–मानव के मध्य दिलों की दूरी बढ़ा दी है। शस्त्र निर्माण की आक्रामण वृत्ति ने सम्पूर्ण मानव जाति की अन्त्येष्ठि की तैयारी कर ली है। प्रदूषण फैल रहा है, पर्यावरण नष्ट हो रहा है। आज की नारियां नारी स्वातंत्रय के नाम पर उच्छृंखल होती जा रही हैं, तथा आज की युवा पीढ़ी संस्कारों के अभाव में गुमराह होती जा रही है। भौतिकी, बौद्धिकी और औद्योगिकी तूफानी प्रगति ने भले ही सुविधा साधनों के पर्वत खड़े कर दिये हों परन्तु आज का मानव अंदर से खोखला एवम् बाहर से ढकोसला मात्र रह गया है। अणु आयुधों की सैन्य सज्जा ने अवश्य ही इंद्रव्रजों को पीछे छोड़ दिया है परन्तु आज का मानव इतना आतंकित आशंकित और असुरक्षित है जितना कि आदिम युग में रहा होगा। वर्तमान समय में मानव अस्तित्व अभिमन्यु की भांति ऐसे चक्रव्यूह में फंस गया है जिसमें से मात्र धर्म का आश्रय लेकर ही निकला जा सकता है। धर्म का पालन करना अंधविश्वास या रूढ़ि नहीं, धर्म पिछड़ापन नहीं, वरन् धर्म मानव मात्र के लिये धारण करने का नाम है।

निष्कर्षतः यह स्वीकार करने में किसी को कोई संकोच नहीं होगा कि संस्कारों की न केवल वर्तमान समय में पूर्ण प्रासंगिकता विद्यमान है वरन् मानव समाज के अस्तित्व के साथ ही संस्कारों का जीवन सम्बद्ध है।[14] संस्कारों का आज की शिक्षा प्रणाली से सीधा सम्बंध नहीं है परन्तु शिक्षा प्रणाली संस्कारों के उचित प्रसार का शक्तिशाली माध्यम है। वैदिक शिक्षा प्रणाली जीवन के विधि क्षेत्रों को श्रेष्ठतर बनाने के लिये व्यक्ति के रुपान्तरण पर बल देती है। संस्कारों की भूमिका इसी बिन्दु पर महत्वपूर्ण है और ये भूमिका सदैव इन्ही के द्वारा ही पूर्ण की जायेगी।

संदर्भ

1. कर्वे, इरावती, हिन्दू सोसाइटी : ऐन इंटरप्रिटेशन, देशमुख प्रकाशन, पूना, 1968, पेज 224
2. कीथ, ए. बी., रिलीजन ऐंड फिलॉस्फी ऑफ वेदाज ऐंड उपनिषदाज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी पब्लिकेशंस, लंदन, 1993, पेज 49
3. वही, पेज 52
4. गोखले, वी. पी., इमेजेज ऑफ इंडिया, पापुलर प्रकाशन बंबई, 1971, पेज 193

Volume-5, Issue-3 July- 2018 E-ISSN 2348-6457 P-ISSN 2349-1817

www.ijesrr.org Email- editor@ijesrr.org

5. कर्वे, इरावती, वही, पेज 228
6. दूबे, सत्यमित्र, मनु की समाज व्यवस्था, किताब महल, इलाहाबाद, 1964, पेज 147
7. गोखले, वी. पी., वही, पेज 178
8. अल्तेकर, ए0एस0, प्राचीन भारत में शिक्षा, विद्याभवन, बंबई,1963, पेज 164
9. पांडेय, डॉ. राजबली, हिन्दू संस्कार, तृतीय संस्करण, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978, पेज 169
10. दूबे, सत्यमित्र, वही, पेज 154
11. काणे,पाण्डुरंग, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, 1966, पेज 283
12. सिंह, राजेन्द्र पाल एवं लता चन्दोला, शिक्षक एवं ज्ञानवान समाज, शिप्रा प्रकाशन, दिल्ली, 2004 पेज 114